IJAER/November-December 2017/Volume-6/Issue-3 ISSN: 2278-9677
International Journal of Arts & Education Research

हिन्दी रंगमंच पर कहानी

डॉ.प्रदीप कुमार मीना
हिन्दी विभाग
राजकीय कन्या महाविद्यालय
सवाई माधोपुर

कहानी के मंचन की मूल कल्पना राष्ट्रीय नाटय विद्यालय, दिल्ली के निदेशक श्री देवेन्द्रराज 'अंकुर' की है। सन 1975 की गर्मियों में एक प्रयोग के तौर पर कथाकार निर्मल वर्मा की तीन कहानियों–'धूप का एक टुकड़ा', 'डेड़ इंच ऊपर', 'वीकएण्ड' को नाटय विद्यालय के प्रशिक्षित कलाकारों के साथ मंचित करने का कार्यक्रम बना। उद्देश्य था– कहानी अपने मूल 'फॉर्म' को तोड़े बिना कथ्य, शब्द और दृश्य सहित मंच पर प्रस्तुत की जाये अर्थात न तो कहानी को संक्षिप्त करना है न विस्तृत न रूपान्तरित न नाटयांतरित। बल्कि कहानी जैसी लिखी–पड़ी जाती है वैसी की वैसी मंच पर अभिनेता द्वारा अभिनीत की जाये। एक तरह से जब कहानी को मंच पर अभिनेता या अभिनेंत्री पढ़ते हैं तो वचक सिर्फ उसे पढ़ते ही नहीं हैं, उसे जीते हैं। निर्मल वर्मा, जिनकी तीन कहानीयों के मंचन से इस प्रयोग की शरूआत हुई, के शब्दों में कहें तो ''कहानी के मंचन में टेक्सट का हर शब्द अपने में एक स्थिती है, उसे बोलना ही स्थिति है, उसे बोलना ही स्थिति को झेलना हैं।''

कहानी के मंचन की संभावना

आधुनिक युग केवल विज्ञान की वजह से ही विशिष्ट नहीं है अपितु ज्ञान के अद्भुत प्रसार–प्रचार, अन्तर्अनुशासनीय ज्ञानानुशासनों की स्थिति, विधाओं का अतिक्रमण व परस्पर सहयोग जैसी अभिनव घटनाओं के कारण भी अभूतपूर्व है। साहित्य के क्षेत्र में विज्ञान की अपेक्षा परिवर्तन व नवाचारों का आगमन–प्रचलन देर से होता है, यद्यपि अधिक स्थायी होता है। हिन्दी कथा साहित्य में एक नया प्रयोग सन् 1975 में रंगमंचीय परिपार्श्व से उभरा जिसमें कहानियों के मंचन को केन्द्र में रखा गया। शर्त यही थी कि न तो कहानी का नाट्य रूपान्तरण करना है न वाचन और न ही फिल्मीकरण; क्योंकि इनसे कहानी की अपनी अस्मिता अक्षुण्ण नहीं रहती और वह अपनी पहचान खोकर दूसरे फॉर्म या रूप में परिवर्तित हो जाती है। मसलन संवादों में ढाली जाकर वह नाटक बन जायेगी। वाचन में वह अभिनय और घटित होने के क्रम में वंचित होगी तथा फिल्मांतरण के अन्तर्गत तो वह मात्र कच्ची सामग्री रह जायेगी। 1975 से लेकर आज

तक लगभग 500 से अधिक कहानियों के मंचन का एक लम्बा तर्जुबा इस प्रयोग को लेकर हुआ है। अंकुर जी के अतिरिक्त अन्य निर्देशकों–राजिन्दर नाथ, सत्यदेव दुबे, शिरीष डोभाल, विजयकुमार आदि ने भी इसे अपनी–अपनी शैली में प्रस्तुत किया।

विधाओं का अतिक्रमण

साहित्य, प्रदर्शनकारी कलाओं और ललित कलाओं का अन्तरावलम्बन तो प्राचीनकाल से ही विदित व स्थापित रहा है लेकिन ''सबसे ज्यादा उल्लेखनीय बात यह भी है कि विभिन्न कलाओं के आपसी लेन–देन में जितनी आवाजाही बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई है, उतनी शायद इतिहास में कभी नहीं हुई। यदि एक ओर सभी कलाएँ अपने–अपने माध्यमों में शिखर तक पहुँचकर पुनः शून्य की ओर लौट रही हैं और इस तरह से अपनी वर्तलाकार यात्रा पूरी कर रही हैं, वहीं वे एक–दूसरे पर और भी ज्यादाा अनतर्निभर होती जा रही है।''

साहित्य और रंगमंच अपने जन्म से समय से ही अन्योन्याश्रित रहे हैं। कथा के आधार पर नाटक की सर्जना होती है और प्रत्येक कथा में जब तक नाटकीयता न हो, अप्रत्याशित तत्त्व न हो तब तक उसके कथ्य में रोचकता नहीं आती। आधुनिक युग में यही कहानी अपनी विधात्मक विशिष्टता या कहानीपन को तोड़े बिना मंचित होने की प्रक्रिया से गुजर रहीं है। इसी प्रकार कविता, उपन्यास, पत्र, संस्मरण, आत्मकथा भी जो लिखित आलेख तक सीमित पाठ्य विधाएँ रहीं, अब मंच पर अभिनय के अवलम्ब से अधिक जीवन्त, अतिरिक्त प्रभावशीलता और अभिनेता–निर्देशक की बेहतरीन कल्पना से अनुभूति की सघनता प्राप्त कर रही है।

आधुनिक युग को पहले औद्योगिक क्रांति, प्रिन्ट क्रांति, फिर इलेक्ट्रॉनिक क्रांति और संचार क्रांति ने लगातार प्रभावित और परिवर्तित किया है। पिछले जमानों में केवल मौखिक संचार उपलब्ध था, परिणामतः सूचना व कलाओं का आदान–प्रदान बहुत मन्द गति से होता था। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री पूरणचन्द्र जोशी कहते हैं– ''इस वर्ग विपन्न समाज में संचार को कौनसा मॉडल कारगर होगा? यह तय करते वक्त इन बातों को ध्यान में रखना होगा कि यहाँ प्राचीन, प्राक्–औद्योगिक और ग्रामीण, औद्योगिक और उत्तर–औद्योगिक–सभी सभ्यताएँ एक साथ चल–पल रही है।''

पश्चिम की तरह ही भारत में संचार क्रांति, औद्योगिक क्रांति की अनुवर्तिनी नहीं रही है। हमारे देश का ग्रामीण, अर्द्ध–विकसित समाज बिना आधार–संरचना के परिवर्तित हुए ही सामाजिक–सांस्कृतिक अधिरचना

में परिर्वतन के दौर को झेल रहा है और उसमें समायोजित होने की जद्दोजहद कर रहा है। तकनीक की नकल तो आसान है लेकिन उसे संस्कार बना पाना काफी मुश्किल भरा है। सामाजिक क्षेत्र में टी.वी., वीडियो, निजी चैनलों, इंटरनेट आदि जैसे विकसित संचार माध्यम, ज्ञान–विज्ञान के प्रसार व मनोरंजन के सस्ते, सार्वजनिक, सुलभ साधन होते हुए भी, अपने–अपने जीवनकाल का अधिकतम जी लेने के बाद निस्तेज होते जा रहे है।

इसके स्थान पर रंगमंच व साहित्य जैसा समाज से अपनी जड़ें सींचता माध्यम निश्चित रूप से अपनी सामूहिकता ही नहीं सामाजिकता की पुनर्स्थापना में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने का माद्दा रखता है। देवेन्द्रराज अंकुर एक जगह लिखते हैं– ''दरअसल यह सामूहिकता और जीवन्तता आदमी के अपने व्यक्तित्व की शर्तों पर निर्भर है। बहुत सीधी और सपाट भाषा में कहा जाए तो दूरदर्शन में आदमी अपने कद से छोटा दिखाई देता है और फिल्म में उसके कद को बढ़ा–चढ़ाकर दिखाया जा सकता है लेकिन रंगमंच ही अकेला ऐसा माध्यम है जहाँ आदमी अपने मौलिक कद और व्यक्तित्व के साथ प्रस्तुत होता है।''

तो कहानियों के मंचन की स्थिति भी इस अर्थ में आवश्यक है कि वह रंगमंच जैसे जीवन्त माध्यम के जरिए सामने आकर जहाँ अपनी सीमितता या गुमनामी तोड़ती है वही रंगमंच के लिए प्रभूत मात्रा में 'जॉब' उपलब्ध करती है तथा दोनों का सफल तालमेल कला व रंगमंच की जनवादी भूमिका को सशक्तता से स्थापित करते हैं। विशेषतः 'कहानी का रंगमंच' प्रयोग की प्राथमिकता ही यह है कि ''वे दर्शक का ध्यान पूरी तरह कथा और अभिनेता द्वारा उच्चारित शब्दों पर केन्द्रित कर देते हैं। वैसा ही संबंध, जैसे आपका कोई आत्मीय आपसे नितान्त निजी अनुभव की बात कर रहा हो। आपको पूरी तरह विश्वास में लेकर, बिना किसी आडम्बर या आकर्षण के, आपके कानों और आँखों के द्वारा सीधे आपके मन में उतरता चलता जा रहा हो।''

आज का रंगमंच प्रयोगधर्मी रंगमंच है। इसमें नित्यप्रति ही प्रयोक्ताओं की प्रतिभा नूतन कल्पना की उड़ान भरती है। कहानी जैसे स्वयं में छोटी विधा नाटक जैसी विस्तृत विधा का कोई मुकाबला नही करती। दोनों का अपना–अपना क्षेत्र है और अपना–अपना आस्वाद। कहानी के रंगमंच पर खेले जाने से ही इसे नाटक का विकल्प नहीं माना जा सकता और न ही ऐसा कोई दावा इस ओर से पेश हुआ है। पूर्ण रंगमंच बनने जैसी कोई गलतफहमी इसमें नहीं पाली गई। तरह–तरह के प्रयोग मंच पर हो रहे हैं– नुक्कड़ नाटक, पूअर थियेटर, विसंगत नाटक इत्यादि; उन्हीं की तरह यह भी एक दिशा है। रंगकर्म का एक नवोन्मेष मानकर उसका स्वागत किया जाना चाहिए जो रंगमंच को ही ऊर्जस्वित नहीं करता अपितु विस्तृत कहानी

संसार को भी सामाजिक के समक्ष खोलता है। हजारों वर्षों पुरानी रंग परंपरा को ये प्रयोग ही हैं जो संचालित किये जा रहे हैं और अपना महत्त्व भी बना रहे है।

उक्त कारणों से यह एक मूल्यवान प्रयोग है जिसकी समाज सापेक्ष, कला सापेक्ष व संस्कृति सापेक्ष अर्थवत्ता के साथ–साथ अकादमिक अर्थवत्ता भी है। पाठ्यक्रमों के तहत स्कूल, कॉलेज व विश्वविद्यालय स्तर पर जो कहानियाँ शामिल की जाती हैं, छात्रों का, उनके मात्र मुद्रित रूप से परिचय हो पाता है। यदि हम उनका दृश्यात्मक रूप भी, सी.डी. इत्यादि जैसे वाजिब मूल्यात्मक साधनों पर उपलब्ध करा सकें तो यह न केवल उनके लिए नया अनुभव क्षेत्र होगा अपितु उनके मनोमस्तिष्क पर कहानी के स्थायी दृश्यांकन के रूप में भी निर्णायक भूमिका अदा कर सकता है। छात्रों को इस प्रकार रंग संस्कार भी दिया जा सकता है और उनके लिए अभिनयात्मक, निर्देशकीय प्रयोगधर्मी नवीन संभावनाओं का क्षेत्र भी खोला जा सकता है।